दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष सातवाँ
अंक दूसरा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

ज्येष्ठ
2477

अंधकार और प्रकाश

अंधकार में देखो तो सोना, लोहा, लकड़ी आदि सभी वस्तुएँ एक-सी मालूम होती हैं, किंतु भिन्नता भासित नहीं होती। और दीपक के प्रकाश द्वारा देखने पर वे वस्तुएँ भिन्न-भिन्न जैसी हैं वैसी दिखाई देती हैं; उसीप्रकार अज्ञानरूपी अंधकार मेंआत्मा और परवस्तुएँ एकमेक भासित होती हैं किंतु आत्मा का पर से भिन्नत्व भासित नहीं होता। आत्मा को पर से भिन्न जानने के लिये प्रथम ही सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश की आवश्यकता है। यह (सम्यग्ज्ञान) सबसे पहली आत्मधर्म की इकाई है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

74

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

1- संसारतत्त्व (2)

2- आत्मार्थी का पहला कर्तव्य (3)

निश्चयसम्यग्दर्शन का मार्ग

3- मुक्ति और संसार

4- रुचिपूर्वक हाँ कहो!

5- अनेकांत और उसका प्रयोजन

समाज सावधान रहे!

अभी हमें ज्ञात हुआ है कि कोई आदमी त्यागी वेष में रहकर और अपने को सोनगढ़ का ब्रह्मचारी कहकर समाज में उपदेशक के रूप में फिरता है और समाज से पैसे की याचना कर फंड करता है। समाज सावधान रहे कि सोनगढ़ की ओर से कोई आदमी उपदेशक आदि के रूप में बाहर नहीं फिरता है, इसलिये मात्र सोनगढ़ का नाम सुकर ऐसे याचकों को कोई पैसा-फंड आदि कुछ न दें और ऐसे याचना करनेवालों को सोनगढ़ का अनुयायी भी न मानें एवं उनका उपदेश भी न सुनें। जैनधर्म तो वीतरागी निस्पृह मार्ग है, यह याचकों का मार्ग नहीं है।

रामजी माणेकचंद दोशी

प्रमुख :

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

आत्मधर्म

ज्येष्ठ 2477

वर्ष सातवाँ, अंक दूसरा

संसारतत्त्व (2)

श्री प्रवचनसार गाथा 271 पर लाठी में
वीर सं. 2476 के जेठ शुक्ला 3-4 के दिन
पूज्य श्री स्वामीजी का प्रवचन

संसार क्या है और वह कहाँ रहता होगा ? - उसका वर्णन श्री आचार्यदेव ने इस गाथा में किया है। संसार आत्मा की क्षणिक विकारी दशा है। नवतत्त्वों में से पुण्य-पाप, आस्रव और बंध - यह चार तत्त्व, बंधतत्त्व में आ जाते हैं। अजीवतत्त्व में संसार नहीं है और शुद्ध जीवतत्त्व में भी संसार नहीं है। संसार कहने से विकार का सूचन होता है। स्वरूप में से संसरित हुआ अर्थात् स्वरूप से च्युत हुआ, वह संसार है। आत्मा का संसार पर में-अजीव नहीं है, और ध्रुव ज्ञानस्वभाव में भी संसार नहीं है तथा आत्मस्वभाव का भान होने से जो संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व प्रगट होते हैं, उनमें भी संसार नहीं है, क्योंकि वह तो निर्मल धर्मदशा है। संसार का अर्थ है अधर्मदशा, विकारदशा। वह जड़ में नहीं है और आत्मा के स्वभाव में भी नहीं है। यदि स्वभाव में संसार हो तो वह दूर नहीं हो सकता और यदि जड़ में हो तो आत्मा उसे दूर नहीं कर सकता, और न उसका फल आत्मा में हो। आत्मा की एक समयपर्यंत की पर्याय में जो विकार और अधर्मदशा है, वही संसार है, यदि उसे जान ले तो दूर कर सकता है। संसार कहाँ है, उसका यथार्थ स्वरूप क्या है, उसे जाने बिना संसार को दूर करने का सच्चा उपाय नहीं कर सकता।

उसीप्रकार संसार आत्मा में है और मानता है जड़ में; यदि जड़ में आत्मा का संसार मानेगा तो उसे दूर करने का प्रयत्न भी जड़ में करेगा, उसका संसार कभी दूर ही कैसे हो सकता है ?

संसारतत्त्व का मुख्य स्वामी कौन है ? वह यहाँ कहते हैं ? जो तत्त्व की अयथार्थ श्रद्धा करता है - ऐसा द्रव्यलिंगी मुनि, संसारतत्त्व का स्वामी है। सामान्यतः तो सभी मिथ्यादृष्टि जीव संसारतत्त्व ही हैं, लेकिन यहाँ संसार के मुख्य नायक के रूप में द्रव्यलिंगी जैन साधु को सिद्ध करना है। जैन संप्रदाय में रहकर द्रव्यलिंगी साधु होकर ऐसा माने कि 'आत्मा परजीवों को बचा

सकता है, आत्मा परजीवों को मार सकता है, आत्मा, जड़ की क्रिया कर सकता है; व्यवहार के आश्रय से आत्मा का कल्याण होता है; निमित्त से आत्मा को लाभ-हानि होते हैं अथवा पर की दया आदि शुभ परिणामों से धर्म होता है' - तो ऐसी मान्यतावाला, वह जीवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा करनेवाला मोहमल से मलिन, संसार में भ्रमण करनेवाला संसारतत्त्व है।

आत्मा पर की अवस्था करता है - ऐसा माननेवाला भले ही पंच महाव्रत का पालक द्रव्यलिंगी जैन साधु हो, तथापि मिथ्यादृष्टि संसारतत्त्व ही है। किसी को बाहर से ऐसा लगे कि इतना सब किया, इसलिए वह संसारतत्त्व से बाहर निकल गया होगा। तो ऐसा कदापि नहीं है, जो दशा अनादि से चली आ रही है, वही दशा है। जिसप्रकार निगोद का जीव संसारी है; उसी प्रकार वह विपरीत श्रद्धा की पुष्टि करनेवाला द्रव्यलिंगी भी संसारी ही है, संसारतत्त्व की अपेक्षा से वे दोनों समान हैं। जगत के अन्य जीव ईश्वर को जगतकर्ता माननेवाले आदि तो मिथ्यादृष्टि हैं, वे तो संसारतत्त्व हैं ही, किंतु जैन संप्रदाय में स्थित द्रव्यलिंगी भी, पुण्य-पाप दोनों को बंधन न मानकर पुण्य से धर्म माने या ऐसा माने कि आत्मा पर का कार्य करता है - तो वह भी स्वयं अविवेक से तत्त्व की विपरीत श्रद्धा करनेवाला संसारतत्त्व ही है।

दयादि भाव पुण्यतत्त्व हैं, हिंसादि भाव पापतत्त्व हैं और शरीरादि अजीवतत्त्व हैं, उनमें कहीं भी आत्मा का धर्म नहीं है। आत्मा परपदार्थों से त्रिकाल भिन्न होने पर भी जो 'आत्मा पर का करता है और यदि परपदार्थ अनुकूल तो आत्मा को ठीक रहे' - ऐसी विपरीत श्रद्धा से, तत्त्व को - 'ऐसा ही है' - इसप्रकार विपरीत निश्चित करते हुए नित्य अज्ञानी हैं, वे द्रव्यलिंगी साधु हों, तथापि संसारतत्त्व हैं, द्रव्यलिंगी उसी को कहा जाता है, जो बाह्य में बिलकुल नग्न दिगम्बर हो और पंच महाव्रत का अतिचाररहित पालन करता हो, दूसरों को तो द्रव्यलिंगी भी नहीं कहा जा सकता। आचार्यदेव कहते हैं कि उस जीव ने - 'यह ऐसा ही है' - इसप्रकार विपरीत श्रद्धा से तत्त्व को निश्चित कर रखा है, इसलिए यदि कोई सीधा-सच्चा कहनेवाला मिले तो भी उसने उसे समझने का अवकाश नहीं रखा है। आत्मा की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें एकत्व करना चाहिए, उसके बदले वह विपरीत श्रद्धावाला जीव अज्ञान के कारण आत्मा में निरंतर मोह को एकत्रित करता है - ऐसे जीव भले ही द्रव्यलिंगी हो गये हों, तथापि उन्होंने आत्मा में सच्ची मुनिदशा प्रगट नहीं की है, इससे वे श्रमण नहीं, किन्तु श्रमणाभास हैं, उनकी परिणति आत्मा में स्थिर नहीं होती, किन्तु अनंत कर्मफल के उपयोग से

भयंकर अनंतकाल तक अनंत भावांतररूप परावर्तन द्वारा वे अनवस्थित वृत्तिवाले रहते हैं, इससे उन विपरीतश्रद्धावाले श्रमणाभास द्रव्यलिंगीयों को संसारतत्त्व ही जानना चाहिए।

यहाँ द्रव्यलिंगी को संसारतत्त्व कहा, इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि मिथ्यादृष्टि गृहस्थ संसारतत्त्व से बाहर रह जाते हैं। यहाँ उत्कृष्ट बात की है, इससे द्रव्यलिंगी साधु को संसारतत्त्व कहा है, वहाँ उनसे नीचेवाले अज्ञानी अर्थात् मिथ्यादृष्टि गृहस्थ आदि तो उसके पेटे में आ ही जाते हैं। पंचमहाव्रतों का पालन करनेवाले मिथ्यादृष्टि साधु को भी जहाँ संसारतत्त्व कहा है, वहाँ मिथ्यादृष्टि गृहस्थ की तो बात ही क्या ? वह तो संसारतत्त्व है ही।

मैं ज्ञाता-दृष्टा आत्मा हूँ, राग का एक अंश भी मेरे ज्ञायकस्वभाव में नहीं है - ऐसा भान जिसने अंतर में प्रगट नहीं किया है और बाह्य में नग्न दिगंबर द्रव्यलिंगी हो गया है तथा पुण्यादि में धर्म मानता है तो वह भी अनंत संसार में परिभ्रमण करता है। द्रव्यलिंगी कहीं किसी को मोक्ष प्राप्त नहीं करा देता। द्रव्यलिंगी उसे कहा जाता है कि जिसके वस्त्रादि रहित नग्न दिगम्बर शरीर हो, मंद कषाय हो, पंच महाव्रत हों, परन्तु आत्मा का अनुभव न हुआ हो। जो जीव पुण्य-पाप में धर्म मानता हो, शरीर की क्रिया से आत्मा को लाभ-हानि मानता हो, वह द्रव्यलिंगी हो, तथापि नित्य अज्ञानी वर्तता हुआ अनंत संसार में भटकनेवाला संसारतत्त्व ही है। 'द्रव्यलिंगी हो तथापि' ऐसा कहने से अन्य विपरीत श्रद्धावाले तो उसमें आ ही गये।

देखो, विपरीत श्रद्धावाले जीव कैसे होते हैं और सच्ची श्रद्धावाले कैसे होते हैं, उसका विवेक करके, अपने भाव में से विपरीत श्रद्धा का पोषण छोड़ने की यह बात है। जो सर्वज्ञदेव को व्यवहार से भी नहीं मानते और उनके कहे हुए नवतत्त्वों की व्यवहार से भी जिन्हें खबर नहीं है, उनकी बात तो दूर रही, किन्तु यथार्थ जैन संप्रदाय में आकर भी जिसे आत्मा के स्वभाव का भान नहीं है और विपरीत तत्त्वश्रद्धा का सेवन करता है, वह भी अनंत संसार में परिभ्रमण करनेवाला है।

जो, सब मिलकर एक आत्मा मानते हैं अथवा आत्मा को एकान्त कूटस्थ या एकान्त क्षणिक मानते हैं - ऐसों की तो यहाँ बात ही नहीं की है, किन्तु व्यवहार से जैनसंप्रदाय में आया है, उसकी बात है। जीव-अजीवादि नवतत्त्वों को स्वीकार करता हो, जैनसंप्रदाय में रहकर द्रव्यलिंगी त्यागी होकर व्रत पालता हो, किन्तु पुण्य से धर्म होता है - इसप्रकार तत्त्व को विपरीत मानता हो तो

वह भी नित्य अज्ञानी वर्तता हुआ अनंत संसार में भ्रमण करता है, व्रत-उपवासादि करने पर भी वह आत्मा के यथार्थ ज्ञान से रहित मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। अंतर में जिसे आत्मा का अनुभव नहीं हुआ है और बाह्य में श्रमणपने का द्रव्यलिंग धारण तो कर लिया है, किन्तु अंतर में तो विपरीत श्रद्धा का पोषण करता है, वह परमार्थश्रामण्य को प्राप्त नहीं हुआ है, उसने साधुदशा का भाव प्रगट नहीं किया है, इससे वह श्रमण नहीं, किन्तु द्रव्यलिंग में अर्थात् बाह्य साधु के वेष में वर्तता हुआ श्रमणाभास है। दिगम्बर द्रव्यलिंगी मुनि के अतिरिक्त दूसरा साधु का बाह्य वेष भी नहीं है। द्रव्यलिंगी के वेष में रहकर ऐसा मानता है कि – 'मैं श्रमण हूँ और नवतत्त्वों की यथार्थ पहिचान नहीं करता, वह नट के वेष जैसा श्रमणाभासी है। जैसे कोई नट बाह्य से तो राजा का वेष धारण करे और राजा जैसा दिखाई दे, लेकिन वास्तव में वह राजा नहीं है, उसीप्रकार विपरीत श्रद्धावाला जीव बाह्य से द्रव्यलिंगी होकर पंचमहाव्रत का पालन करता हो तो वह बाह्य में श्रमण जैसा लगता है, लेकिन वह सच्चा श्रमण नहीं है, वैसों को यहाँ संसारतत्त्व कहा है।

धर्मात्मा जीव को तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा होती है। मैं शुद्ध ज्ञाता हूँ – ऐसा वह स्वीकार करता है। जिन्हें अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव प्रगट हुआ है – ऐसे धर्मी गृहस्थ भी मोक्ष के साधक हैं और अज्ञानी द्रव्यलिंगी हुआ हो, तथापि वह संसार का ही साधक है। आचार्यदेव ने संसारतत्त्व में साधारण गृहस्थ की बात मुख्यरूप से न लेकर द्रव्यलिंगी की बात मुख्य ली है, क्योंकि वह अन्य अज्ञानी जीवों को संसार में भटकने में निमित्त है, विपरीत उपदेश से वह जगत के जीवों को मिथ्यामार्ग पर लगाने में निमित्त होता है। घरबार छोड़कर जंगल में जाकर एकांत गुफा में पद्मासन लगाकर बैठा हो और 'इस शरीर को स्थिर रखने की क्रिया मैं करता हूँ तथा इससे मुझे लाभ होता है' – ऐसा मानता हो तो वह प्रतिक्षण मिथ्याश्रद्धा के सेवन द्वारा संसार की वृद्धि कर रहा है।

कर्मों के उदय के कारण जीव को विपरीत श्रद्धा होती है – ऐसी बात नहीं है, परन्तु जीव स्वयं अविवेक से पदार्थों की अयथार्थ श्रद्धा करता है। पदार्थों के स्वरूप की विपरीत श्रद्धा करके बाह्य क्रियाकाण्ड में धर्म माने-मनाये, वह जीव वर्तमान में तो मिथ्याभाव का पोषण करता है और उस विपरीत भाव के सेवन से भविष्य में भी अनंत कर्मफल की उपभोगराशि से भयंकर अनंतकाल तक विकार में भावांतररूप परावर्तन उसे होते ही रहते हैं, इससे उसकी परिणति सदैव अस्थिर रहा करती है, किन्तु आत्मा में कभी स्थिर नहीं होती – इससे वही संसारतत्त्व है। संसारतत्त्व का

संसरण बतलाने के लिए भावांतररूप परावर्तन की बात ली है। मिथ्याश्रद्धा वाला जीव किसी भावरूप से स्थिर नहीं रहता, किन्तु विकारी भावों में प्रतिक्षण उसका परिवर्तन होता रहता है, इसलिए वही संसारतत्त्व है, ऐसा जानना चाहिए।

तत्त्व से विरुद्ध श्रद्धा का भाव करके आत्मा विकारभाव में परिवर्तित होता रहता है, उसका नाम संसारतत्त्व है। विकारपर्याय आत्मा में होती है, विकार का कर्ता आत्मा है – ऐसा यहाँ बतलाया है। यहाँ अज्ञानी की बात है, अज्ञानी विकार का कर्ता होता है। और आत्मा पुण्य-पाप का ज्ञाता-दृष्टा है, वह विकार का कर्ता नहीं है – ऐसा समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार की में कहा है, वहाँ धर्मात्मा की बात है। शुद्धात्मस्वभाव की दृष्टिवाला धर्मी जीव विकार का कर्ता नहीं होता। यहाँ संसारतत्त्व का वर्णन है – इससे ऐसा बतलाया है कि अधर्मी जीव स्वयं विकारभावरूप परिणमित होता है। अधर्मी का अधर्म भाव अर्थात् संसार उसकी अवस्था में होता है, जड़ में नहीं होता।

यदि बाह्य वस्तुओं में आत्मा का संसार हो तो उन्हें छोड़कर मरते समय आत्मा की मुक्ति हो जाना चाहिए। इसलिए बाह्य वस्तुओं में आत्मा का संसार नहीं है। 'मैं पर की व्यवस्था बराबर रखता हूँ; मैं हूँ, इसलिए पर के कार्य होते हैं; मेरे अच्छे उपदेश के प्रभाव से मेरे अनेक शिष्य हो जाते हैं, यानी मेरे उपदेश का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है – ऐसा माननेवाले सभी मिथ्यादृष्टि संसार में भटकनेवाले हैं।' विपरीत मान्यतावाले द्रव्यलिंगी साधु स्वयं संसारतत्त्व हैं और उन साधुओं को गुरुरूप से मानकर विपरीत मान्यता की पुष्टि करनेवाले श्रावक गृहस्थ भी संसारतत्त्व हैं, विपरीत भाव से वे जीव भविष्य में अनंत संसार में परिभ्रमण करेंगे और सीधी-सच्ची श्रद्धावाले जीवों का अल्पकाल में संसार का अन्त आ जायेगा।

संसार आत्मा की दशा में है, वह एक समयपर्यंत का विकार है। उसे छोड़ने के लिए विकार रहित वस्तुस्वभाव की-चैतन्यमूर्ति आत्मा की दृष्टि करना चाहिए, उसके बदले बाह्य वस्तुओं को छोड़ने से संसार छूटता है – ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, वह कभी बाह्य दृष्टि छोड़कर अंतरस्वभावोन्मुख नहीं होता और न उसका संसार दूर होता है। 'तत्त्वनिर्णय का क्या काम है? अन्त में तो राग-द्वेष ही कम करना है न? इसलिए राग-द्वेष कम करने में लगो, और राग-द्वेष को कम करने के लिए बाह्य वस्तुओं का त्याग करो' – ऐसा मानने और कहनेवाले भले ही त्यागी हों,

तथापि मिथ्यादृष्टि हैं, वे संसार में भटकनेवाले हैं। बाह्य संयोगों को छोड़ने से राग-द्वेष कम नहीं होते, बाह्य संयोगों का त्याग तो अभव्य जीवों ने अनंत बार किया है। तत्त्वनिर्णय करके आत्मस्वभावोन्मुख न हो तो कभी राग-द्वेष दूर हो ही नहीं सकते। इसलिए तत्त्वनिर्णय करके आत्मा के स्वभाव की ओर उन्मुख होना ही संसार को दूर करने का उपाय है।

संसार कहाँ है ? उसे बतलाकर यह बताया है कि वह कैसे दूर हो। भाई ! तेरी विपरीत मान्यता से ही संसार है, वह अपने स्वभाव की सच्ची श्रद्धा से दूर होगा। न तो बाह्य में संसार है और न बाह्य वस्तुओं को छोड़ने से वह छूटता है। छह महीने के उपवास करके खड़ा-खड़ा सूख जाये और भीतर मंदराग से धर्म माने तथा ऐसा माने कि आहार मैंने छोड़ा है - तो वह जीव संसारतत्त्व का सेवन करनेवाला है। अज्ञानियों की दृष्टि बाह्य संयोग पर है, इससे वे बाह्य क्रिया देखकर उससे धर्म मानते हैं, परन्तु अंतरदृष्टि से देखनेवाले ज्ञानी कहते हैं कि वे जीव विपरीत मान्यता से अधर्म का ही सेवन करते हैं।

मैं चैतन्यबिम्ब ज्ञायकमूर्ति हूँ, आहार मेरे स्वरूप में है ही नहीं - इससे उसे ग्रहण करने या छोड़नेवाला मैं नहीं हूँ - इसप्रकार ज्ञानानन्दस्वभाव का भान करके उसमें लीन रहने से राग की उत्पत्ति ही न हो और आहार का संयोग उसके अपने कारण न हो, उसका नाम उपवास है। उसके बदले बाह्य क्रिया में उपवास और धर्म मनाएँ, वे मिथ्यादृष्टि संसारतत्त्व हैं। वे भले ही द्रवयलिंगी श्रमण हों, तथापि अनंत भावान्तररूप परावर्तन को प्राप्त होते हुए अस्थिर परिणतिवाले रहेंगे। परिणति स्वरूप में स्थित हो तो वह मोक्ष का कारण है। लेकिन जहाँ स्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं है, वहाँ परिणति स्वरूप में स्थिर होगी कहाँ से ? इससे विकार में ही परिणति बदलती रहती है, वही संसार है। विकारीभाव एक-सा नहीं रहता, किन्तु प्रतिक्षण बदलता रहता है। कभी ऐसा शुभभाव करता है कि नवमें ग्रैवेयक का देव होता है और कभी अशुभभाव करके नरक में जाता है। क्षण में पुण्य और क्षण में पाप; कभी महान सम्राट होता है और क्षण में निगोद में जाता है, इसप्रकार विपरीत श्रद्धावाला जीव अनंत भावान्तर के परावर्तन में परिभ्रमण करता है, इससे वह संसारतत्त्व है।

व्रतादि का शुभराग बंध का कारण होने पर भी अज्ञानीजन उसे मुक्ति का कारण मानते हैं। जिस भाव से बंधन हो, वह भाव मुक्ति का साधन कदापि नहीं हो सकता। पाँचवें-छठवें गुणस्थान

में भी सात-आठ कर्म बंधते हैं, बंधनभाव के बिना (बंध के कारणरूप भाव के बिना) कर्म नहीं बंधते, तो वहाँ पाँचवें-छठवें गुणस्थान में कौनसा बंधन भाव है ? वहाँ जो व्रतादि का शुभभाव है, वह बंधन का भाव है, उससे कर्म बंधते हैं। तथापि उस बंधनभाव को मुक्ति का कारण मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं अर्थात् निगोद के भाव का सेवन करनेवाले संसारतत्त्व हैं।

छठवें गुणस्थान में भी सात या आठ कर्म बँधते हैं - ऐसा भगवान ने कहा है, तो वे किस भाव से बंधते हैं, अशुभभाव तो वहाँ होता नहीं है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का जो शुद्धभाव प्रगट हुआ है, वह बंधन का कारण होता नहीं है, इससे व्रतादि का जो शुभभाव है, उसी से कर्म बंधते हैं, इससे वह बंध का कारण है, और रागरहित ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके उसमें लीनता करना, वह कर्मों का काटने का-मुक्ति का कारण है। ऐसा होने पर भी वह उस राग को धर्म का या मुक्ति का कारण मानते हैं, वे अनवस्थित परिणतिवाले रहने के कारण संसारतत्त्व ही हैं। किसी की

आत्मार्थी का पहला कर्त्तव्य (3)

निश्चय सम्यग्दर्शन का मार्ग

(वीर सं. 2476श्रावण शुक्ला 14 सोमवार)

यह आत्मा देह से पृथक् पदार्थ है। जिसे आत्मा का कल्याण करना हो - सुखी होना हो - धर्म करन हो अथवा सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, उसे क्या करना चाहिए ? - यह बात चल रही है।

प्रथम तो जीवादि तत्त्वों को पृथक्-पृथक् यथावत् जानना चाहिए। उन नवतत्त्वों के विचाररूप शुभभाव अखण्ड चैतन्यवस्तु में प्रवेश करने के लिए निमित्त होते हैं। जैसे, दरवाजे द्वारा घर में प्रविष्ट हुआ जाता है, लेकिन दरवाजे को साथ लेकर घर में प्रविष्ट नहीं हुआ जाता, उसीप्रकार अंतर के चैतन्यगृह में प्रविष्ट होने के लिए नवतत्त्वों की श्रद्धा करना, वह दरवाजा है- निमित्त है; लेकिन उन नवतत्त्वों के विचार के शुभराग से कहीं अभेद स्वभाव में प्रविष्ट नहीं हुआ जाता और पहले नवतत्त्व के ज्ञानरूप आंगन में आये बिना भी अभेद में नहीं पहुँचा जाता।

अहो ! अनंतकाल में ऐसी मनुष्यदेह प्राप्त हुई है, उसमें विचार करना चाहिए कि मेरा कल्याण कैसे हो ? अनंतकाल में कल्याण नहीं हुआ और निगोदादि अनंत भवों में भटकता फिरा; अब अनंतकाल में यह महँगा मनुष्य भव प्राप्त करके आत्मा का कल्याण कैसे हो ? उसकी यह बात है।

जिसप्रकार राजा से मिलने जाये तो पहले द्वारपाल बीच में आता है, उसीप्रकार इस चैतन्य सम्राट की प्रतीति और अनुभव करने के लिए जाते हुए बीच में नवतत्त्व की श्रद्धारूप द्वारपाल आता है। उन नवतत्त्वों का वर्णन हो रहा है, उनमें से जीव, अजीव, पुण्य और पाप – इन चार तत्त्वों का वर्णन हो गया है।

सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त होता है, उसकी यह रीति कही जा रही है। यह सम्यग्दर्शन का उपाय है। आत्मा देहादि परवस्तुओं से भिन्न चैतन्यवस्तु है, उसे वैसा ही मानना, वह सम्यक्श्रद्धा का मार्ग है। जैसे किसी के पास करोड़ रुपये की संपत्ति हो, उसे करोड़ की संपत्तिवाला माने तो सच्चा माना कहलाये, लेकिन करोड़ रुपये की संपत्तिवाले को हजार की संपत्तिवाला ही माने तो वह मान्यता सच्ची नहीं कहलायेगी। करोड़ रुपये की संपत्ति का ज्ञान कर लेने के पश्चात् अपने यहाँ करोड़ रुपये की संपत्ति कैसे हो – यह बात अलग है। उसीप्रकार आत्मा अनंत गुणों का स्वामी, सिद्धभगवान जैसा है, उसे वैसे पूर्ण स्वरूप से प्रथम विकल्प से मानना, वह व्यवहार से जीवतत्त्व की सच्ची मान्यता है, वह पुण्यपरिणाम है। चैतन्यतत्त्व की निर्विकल्प श्रद्धा करने से पूर्व उसका विकल्प आता है। विकल्प से भी स्वीकृति तो पूर्ण की ही है। आत्मा को सिद्ध समान पूर्ण न माने और क्षणिक विकारवाला ही माने, उसे तो जीवतत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है। विकल्प से मन द्वारा भी जो परिपूर्ण जीवतत्त्व को न जाने, उसे परमार्थश्रद्धा नहीं होती। नवतत्त्व की व्यवहारश्रद्धा पुण्य है, धर्म नहीं है। तब फिर बाह्य क्रिया में तो धर्म होगा ही कहाँ से ?

जिसप्रकार मक्खी कफ खाते हुए उसकी चिकनाई में चोंट जाती है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव अनादि से चैतन्य को चूककर इन्द्रिय विषयों की रुचि करके उसी में चोंट जाते हैं। किन्तु किंचित् निवृत्ति लेकर – अरे ! मैं कौन हूँ ? यह संसार-परिभ्रमण कैसे दूर हो ? – इसप्रकार जीवादि तत्त्वों का विचार नहीं करते। अभी नवतत्त्व के विचार में भी राग के प्रकार पड़ते हैं; क्योंकि नवतत्त्वों का विकल्प एक साथ नहीं होता किन्तु क्रमानुसार होता है, इससे उसमें रागमिश्रित

विचार से नवतत्त्वों का निर्णय करना, वह व्यवहारश्रद्धा है, वह अभी यथार्थ धर्म नहीं किन्तु धर्म का आंगन है और नवतत्त्व के विकल्परहित होकर एक अभेद आत्मा को श्रद्धा में लेना, वह निश्चय श्रद्धा है, वही प्रथम धर्म है।

जिसप्रकार बही-खातों में हिसाब देखें तो संपत्ति का पता लगता है, उसीप्रकार सत्समागम से शास्त्रों का अभ्यास, श्रवण-मनन करे तो खबर पड़े कि जीव-अजीव क्या है।

कोई कहे कि जबतक हम जीते हैं, तबतक तो घर-बार, व्यापारादि के अनेक कार्य हैं, इसलिए जीते दम तक आत्मा की श्रद्धा नहीं हो सकती, हाँ, मरते समय अवश्य कुछ करेंगे! तो ऐसा कहनेवाले को तत्त्व की रुचि नहीं है, आत्मा को समझने की दरकार नहीं है।

अरे भाई ! इसीसमय शरीर, पैसादि समस्त पदार्थों से आत्मा पृथक् ही है, पर का कुछ नहीं कर सकता, तथापि, 'मैं करता हूँ' - ऐसा मानता है, वह अज्ञान है। अभी इस समय पर से भिन्न आत्मा की बात समझता नहीं है और न समझने की रुचि है तो मरते समय कहाँ से लायेगा ?

मैं जीव हूँ और शरीरादि परपदार्थ मुझसे भिन्न अजीव हैं। उन शरीरादि के कार्य आत्मा नहीं करता है, इतनी बात जिन्हें नहीं जमती, उन्हें जीव-अजीवतत्त्व के भिन्नत्व का भान नहीं है।

प्रश्न - लेकिन व्यवहार से तो आत्मा पैसादि प्राप्त कर सकता है न ?

उत्तर - ऐसा नहीं है। पैसा जड़ है, उस जड़ के आने-जाने की अवस्था उसके अपने कारण होती है, आत्मा व्यवहार से भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मा उसे प्राप्त कर सकता है - ऐसा मानना तो व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है। इतने पैसे प्राप्त किये, इसने अमुक कार्य करके यह प्राप्त किया - ऐसा कहा जाता है, वह तो मात्र व्यवहार की भाषा है।

त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा दिव्यध्वनि में आदेश देते हैं कि - हे जीव ! तू शान्त हो, शान्त हो ! यदि तुझे आत्मा का कल्याण करना हो-धर्म करना हो तो हम कहते हैं कि उसीप्रकार जीव-अजीव को पृथक् समझ! अभेद चैतन्यस्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा करने के लिए, प्रथम रागमिश्रित विचार से जीव-अजीव को पृथक् जानना, वह व्यवहारश्रद्धा है।

जीव और अजीव - यह दो तत्त्व मूलद्रव्य हैं, वह त्रिकाली हैं और शेष सात तत्त्व क्षणिक अवस्थारूप हैं। अवस्था में जो क्षणिक पुण्य-पाप होते हैं, वे जीव के त्रिकाली स्वभाव में से नहीं

आये हैं और न जड़ की क्रिया से हुए हैं। जीवद्रव्य में से पुण्य आया – ऐसा माने तो जीव और पुण्यतत्त्व पृथक् नहीं रहते और जड़ की क्रिया से पुण्य माने तो भी अजीव और पुण्यतत्त्व पृथक् नहीं रहते। पुण्य तो क्षणिक अवस्था से होता है। इसप्रकार नवतत्त्व को जाने बिना व्यवहारश्रद्धा भी नहीं होती।

त्रिकाली जीवद्रव्य के लक्ष से पुण्य-पाप उत्पन्न नहीं होते और न परवस्तुओं के कारण पुण्य-पाप होते हैं, किन्तु जीव की एकसमय पर्यंत की अवस्था में अरूपी विकारी शुभाशुभ परिणाम होते हैं, वह पुण्य-पाप हैं।

अब, पाँचवाँ आस्रवतत्त्व है, पहले पुण्य-पापतत्त्व को पृथक् बतलाया और पश्चात् आस्रवतत्त्व का वर्णन करते हुए पुण्य-पाप – दोनों को आस्रव में डाल दिया। इसलिए, पुण्य अच्छा और पाप बुरा – इसप्रकार जो पुण्य-पाप में अंतर मानता है, उसे आस्रवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है। पुण्य और पाप – दोनों विकार हैं, आस्रव हैं। उन पुण्य-पाप से रहित – 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' – ऐसा विचार करे, वह तो व्यवहार से नवतत्त्व का स्वीकार है। जैसे – किसी के पास से ऋण लिया हो लेकिन अभी चुकाया न हो, इसके पहले उसे पूरा चुकाना स्वीकार करे, वह व्यवहार में-बोलने में साहूकार हुआ कहलाता है। उसीप्रकार चैतन्यद्रव्य की अखंड निधि सिद्ध समान है, अनंतगुण का भंडार है, उसमें एकाग्र होकर उसका अनुभव करनेरूप ऋण चुकाने से पूर्व उसकी व्यवहार से श्रद्धा करना, सो व्यवहार में साहूकारी अर्थात् व्यवहारश्रद्धा है और पश्चात् एक अखंड चैतन्यद्रव्य की प्रतीति करके उसका अनुभव करना, वह परमार्थ से साहूकारी-परमार्थश्रद्धा है। ऐसे परिपूर्ण आत्मस्वभाव की श्रद्धा करने में किस्तें नहीं होतीं – क्रम नहीं होता, पूर्ण की श्रद्धा के पश्चात् चारित्र में क्रम होता है।

जिसने पुण्य-पाप दोनों तत्त्वों को विकाररूप से समान नहीं जाना, किन्तु पुण्य अच्छा और पाप बुरा – ऐसा भेद माना, उसने आस्रवतत्त्व को नहीं जाना है। जिसप्रकार तालाब में नदी का पानी बाहर से आता है अथवा छिद्रों वाली नौका में बाहर से पानी भरता है, वैसे ही आत्मा में कहीं बाह्य क्रिया से आस्रवभाव नहीं आते, किन्तु पर्यायदृष्टि से जीव की अवस्था में आस्रवभाव होते हैं। आस्रव, त्रिकाली जीवद्रव्य से नहीं होता और न अजीवद्रव्य से ही होता है। अहो ! अनेक लोगों को जहाँ नवतत्त्व की भी बराबर खबर नहीं है, वहाँ अंतरस्वभाव की दृष्टि कहाँ से हो ? वैसे जीव तो

आत्मभान बिना जैसा जन्म लिया वैसे ही कौये-कुत्तों की भाँति अवतार पूर्ण करके, मरकर चले जाते हैं, उन्होंने जीवन में कुछ भी अपूर्व नहीं किया है। बाह्य में कुदेवादि की विपरीत मान्यता छोड़कर, सर्वज्ञदेव द्वारा कथित इन नवतत्त्वों को बराबर जाने, वह तो अभी धर्म की व्यवहार रीति में आया है, अभी परमार्थ धर्म तो उससे पृथक् ही वस्तु है।

छठवाँ संसारतत्त्व है। संवर आत्मा की निर्मल पर्याय है। शरीर को समेट कर बैठ जाना - वह कहीं संवर नहीं है। चैतन्य में एकाग्रता करने से सम्यग्दर्शन हो, वह प्रथम संवर है। कोई ऐसा माने कि पुण्य क्षयोपशमभाव है और उससे संवर होता है - तो वह मान्यता मिथ्या है। कर्म के उदय में युक्त होने से शुभवृत्ति का उत्थान हो, वह पुण्य है। वह पुण्य क्षयोपशमभाव नहीं, किन्तु उदयभाव है। पुण्य आस्रव है, वृत्ति का उत्थान है, उसे यदि उदयभाव न कहा जाये तो फिर किसे कहा जाये ? क्या अकेले पाप को ही उदयभाव कहना चाहिए। पुण्य और पाप - दोनों उदयभाव हैं, वे धर्म के कारण नहीं हैं। संवर तो पुण्य-पापरहित निर्मल भाव है, वह धर्म है। चैतन्यस्वरूप आत्मा में एकाग्रता से ही संवर होता है। ऐसा संवरभाव आत्मा में प्रगट होने से पूर्व उसकी प्रतीति करना, वह व्यवहारश्रद्धा है। जिनके ऐसा संवरभाव प्रगट हुआ हो, वही सच्चे गुरु हैं, ऐसा भाव प्रगट न हुआ हो, वे कुगुरु हैं। यानी संवरतत्त्व की पहिचान में सच्चे गुरु की प्रतीति भी साथ में आ जाती है। जिनमें संवरतत्त्व प्रगट न हुआ हो - ऐसे अज्ञानियों को जो गुरुरूप से माने, उस जीव को संवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है।

अहो ! एकसमय का संवर मुक्ति देता है। ऐसे संवर के बदले जो जड़ की क्रिया में और पुण्य में संवर मनाएं, वे सब कुदेव-कुगुरु हैं। कुगुरु सच्चे धर्म को लूटनेवाले लुटेरे हैं, उन्हें जो गुरुरूप से मानते हैं, वे जीव धर्म के लुटेरों का पोषण करते हैं, उनके कदापि धर्म नहीं हो सकता। जो पर से या पुण्य से संवर न मनाएं, किन्तु आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से संवर मनाएं और ऐसा संवर जिनके आत्मा में प्रगट हुआ हो, वही सच्चे गुरु हैं - ऐसे गुरु को ही गुरुरूप से माने, तब तो गुरु की श्रद्धा हुई कहलाती है। यह सब तो व्यवहार श्रद्धा में आ जाता है।

अहो ! अंतर में विचार करके इसप्रकार का ध्यान तो ज्ञान में करो ! यह आत्मा की अंतर क्रिया है। इसके अतिरिक्त बाह्य की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। पहले अंतर में परमार्थ स्वभाव के सन्मुख होकर उसकी श्रद्धा करना, सो प्रथम संवर है और पश्चात् चारित्रदशा प्रगट होने से विशेष संवर होता है।

आत्मा पर का कर सकता है, पुण्य से संवर-धर्म होता है - ऐसा जो माने, उसे तो व्यवहार श्रद्धा भी सच्ची नहीं है, ऐसे जीवों को जो गुरुरूप से मानकर आदर करते हैं, वे जीव उस कुगुरु की अपेक्षा अधिक पापी हैं। मिथ्यात्व का सेवन सबसे महान पाप है। शुद्ध चैतन्य की श्रद्धा करके उसमें स्थिर होना, सो संवर है। जिन्होंने ऐसा संवरभाव प्रगट किया हो और ऐसा ही संवर का स्वरूप बतलाते हों, वही सच्चे गुरु हैं। संवरभाव प्रगट होने से पूर्व उसका ज्ञान करना चाहिए। ऐसा समझे, तब नवतत्त्व की श्रद्धा हुई कहलाती है। इसके अतिरिक्त जो पुण्य से धर्म माननेवाले कुदेव-कुशास्त्र को माने, उसे नवतत्त्व की श्रद्धा भी नहीं है, इससे उसे व्यवहारधर्म भी प्रगट नहीं हुआ, उसे आत्मा का परमार्थ धर्म नहीं होता।

अहो ! यह सूर्य जैसी स्पष्ट बात है। अंतर में बराबर विचार करे तो आत्मा में प्रकाश हो जाये। पूर्व के विपरीत विकारों के साथ इस बात का मेल नहीं बैठ सकता। पूर्व को पकड़ छोड़कर, मध्यस्थ होकर पात्रता से विचार करे तो अंतर में यह बात जम सकती है। यह बात समझे बिना आत्मा का कल्याण या धर्म नहीं होता।

सर्वज्ञभगवान द्वारा कथित नवतत्त्वों को रागमिश्रित विचार से मानने का भी जिनके अवकाश नहीं हैं और कुगुरुओं के कहे हुए तत्त्वों को मानते हैं, उन्हें अभेद आत्मा की ओर ढलकर परमार्थश्रद्धा नहीं हो सकती। नवतत्त्वों का विचार करने से भेद पड़ता है और राग होता है, इससे यह व्यवहारश्रद्धा है। नवतत्त्वों के विचार एकसमय नहीं आते, क्योंकि वे तो अनेक हैं। उनमें एक तत्त्व के विकल्प के समय दूसरे तत्त्वों का विकल्प नहीं होता, इससे नवतत्त्वों के लक्ष से भेद और क्रम पड़ता है, परन्तु निर्विकल्पदशा नहीं होती। भूतार्थ आत्मा में एकपना है, वह एक समय में अखण्डरूप से प्रतीति में आता है और उसके लक्ष से ही निर्विकल्पदशा होती है। लेकिन ऐसी निर्विकल्पदशा के लिए आत्मोन्मुख होने से पूर्व नवतत्त्व के विकल्प आये बिना नहीं रहते। नवतत्त्वों के क्रम-विचार में भी जो नहीं आया, उसे उस क्रम का विचार छोड़कर अक्रमरूप आत्मस्वभाव की एकता की श्रद्धा नहीं होती।

प्रथम नवतत्त्व की श्रद्धा करके, उन नव के भेदों का विचार छोड़कर अभेद चैतन्यद्रव्य की प्रतीति करने से सम्यग्दर्शनरूपी संवर धर्म प्रगट होता है। संवरतत्त्व की श्रद्धा में सच्चे गुरु कैसे होते हैं, उनकी भी श्रद्धा आ जाती है। संवरतत्त्व को धारण करनेवाले ही सच्चे गुरु हैं। जो पुण्य को

संवरतत्त्व मानता है अथवा तो देह की क्रिया को संवरतत्त्व मानता है, वह सच्चा गुरु नहीं है। इसप्रकार संवरादि तत्त्वों को और सच्चे गुरु को पहिचाने, तब तो व्यवहारश्रद्धा होती है, वह पुण्यभाव है और उससे विरुद्ध कुदेव-कुगुरु को माने अथवा तो पुण्य को संवर माने, उसे तो मिथ्यात्व के सेवन का पापभाव है, उसे धर्म नहीं होता। भोजन का त्याग किया, उससे उपवास या संवर होना मान ले, उसे संवरतत्त्व की खबर नहीं है और जिसकी एक तत्त्व में भूल हो, उसकी नव तत्त्वों में भूल होती है। सिद्ध परमात्मा जैसे अपने आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें रागरहित स्थिर होना, वह संवरधर्म है - ऐसे संवरादि नवतत्त्वों की विकल्पसहित श्रद्धा, वह व्यवहारश्रद्धा है और नवतत्त्व के विकल्परहित होकर एक अभेद आत्मा की प्रतीति और अनुभव करना, वह यथार्थ सम्यग्दर्शन है - यही प्रथम धर्म है।

मुक्ति और संसार

(गतांक से आगे)

चैतन्य के एकत्वस्वभाव के भान द्वारा राग-द्वेष में एकत्व को छोड़ दूँ तो सुख प्रगट हो - ऐसा अज्ञानी नहीं मानता।

9. आत्मा अपने स्वभाव के एकत्व को छोड़कर जितना पर का आश्रय ले, उतना पराश्रयभाव-द्वैत भाव तैयार होता है और उसका फल संसार है। जगत के जीवों ने शरीर की क्रिया में और अधिक तो पुण्य में धर्म मनवा दिया है, किन्तु वह पुण्य तो विकार है, आत्मा के स्वभाव से अन्य है। आत्मा के स्वभाव के संबंध में जीव को अनादिकाल से भ्रांति बनी हुई है, सच्ची समझ के द्वारा उस भ्रान्ति को दूर करे तो धर्म हो। शरीर में जरा-सा रोग हो तो उसे दूर करने के लिए चिंता करता है, किन्तु आत्मा में अनादिकाल से मिथ्याभ्रान्तिरूपी रोग लगा हुआ है, वह कैसे मिटे? उसके उपाय का कभी विचार नहीं किया है। शरीर से भिन्न आत्मा क्या वस्तु है, उसे लक्ष में नहीं

लिया है, इसलिए जो शरीर है, सो मैं ही हूँ – ऐसी देहदृष्टि से शरीर का रोग भासित होता है और उसे दूर करने के लिए चिंता करता है, लेकिन आत्मा में मिथ्यात्व भ्रान्ति के रोग के कारण अनंतकाल से भावमरण से मर रहा है, वह रोग भासित नहीं होता और न उसे दूर करने का उपाय करता है, आत्मसिद्धि में श्रीमद् कहते हैं कि –

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद सुजाण।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहि, औषध विचार ध्यान।।

जैसे – अस्पताल में दवाओं की अनेक बोतलें भरी हों, लेकिन कब कौन से रोग पर किस जाति की दवा लागू होगी, वह वैद्य से पूछना पड़ता है। किस रोग की कौन दवा है, उसे जाने बिना ऐसे दवा की शीशी लेकर पीने लग जाये तो रोग दूर नहीं हो सकता–उलटी हानि होगी। उसीप्रकार शास्त्रों में तो जन्म–मरण का रोग दूर करने की दवा है, लेकिन कब कौन सी दवा लागू होगी, वह ज्ञानीरूपी वैद्य के बिना नहीं जाना जा सकता, इसलिए एक बार सत्समागम करना चाहिए। शास्त्र में कहाँ किस अपेक्षा से कथन है, वह गुरुगम के बिना समझ में नहीं आ सकता। गुरुगम के बिना यदि अपने आप अर्थ करेगा तो अर्थ का अनर्थ कर डालेगा। ज्ञान तो अपनी पात्रता से ही होता है, किन्तु निमित्तरूप से गुरुगम होता है। भावरोग को दूर करने की औषधि क्या है ? 'औषध विचार और ध्यान।' सत्समागम से आत्मस्वभाव का श्रवण करके पश्चात् अन्तर में उसका विचार कर और एकाग्रता का अभ्यास करना, वह अनादिकालीन रोग को दूर करने की औषधि है, किन्तु श्रवण करके यदि मंथन और एकाग्रता न करे तो भावरोग दूर नहीं होगा।

10. व्यवहार का अर्थ है पुण्य की शुभवृत्ति; उससे परमार्थ प्राप्त नहीं किया जा सकता। व्यवहार की शुभवृत्ति स्वभाव के आश्रय से नहीं होती किन्तु पर के लक्ष से होती है। स्वभाव के आश्रय से लाभ है, उस स्वभाव की रुचि प्रगट न करे और संयोग से या व्यवहार से लाभ होता है – ऐसी बुद्धि रखे, उसे भगवान मिथ्यात्वी कहते हैं। सधन या निधन आदि समस्त जीवों के लिए धर्म तो चैतन्यस्वभाव की शरण में ही होता है। प्रभु ! तुझे अपनी प्रभुता नहीं जमती, इससे तू पराश्रय से धर्म मान रहा है। अपने चैतन्यतत्त्व की प्रभुता से च्युत होकर पराश्रय से लाभ मानकर जीव संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। पराश्रय से शुभ–अशुभ द्वैत की उत्पत्ति में लाभ माना है, इससे संसार है। चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्रतीति करके उसमें स्थिर हो तो द्वैत दूर हो अर्थात् संसार का नाश हो जाये और मुक्तदशा प्रगट हो।

प्रथम सत्समागम से यथार्थ समझ द्वारा शरीर और पुण्य-पाप में एकत्वबुद्धि दूर करके, चैतन्यस्वभावी आत्मा में एकत्वबुद्धि प्रगट करना चाहिए। इसके लिए अपनी पात्रता के श्रवण-मनन होना चाहिए। पर से पृथक्त्व के भान से और स्व में एकत्व की श्रद्धा-ज्ञान से अपूर्व आत्मधर्म का प्रारम्भ होता है। पहले ऐसी श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होने के पश्चात् उसमें लीनतारूप चारित्र प्रगट होता है, वह मुनिदशा है, फिर भी वीतरागता होने पर केवलज्ञान और मुक्ति होती है।

11. धर्म परम आनंद का कारण है और उसका प्रारम्भ भी आत्मा के आनंद से होता है। धर्म दुःखदायक नहीं, किन्तु शांतिरूप है। चैतन्यतत्त्व की महिमा के भान बिना पाप और पुण्य करके अनंतकाल से जीव चार गतियों में भटक रहा है, किन्तु स्वभाव की अपार महिमा को एक समय भी नहीं जाना। उसके बिना व्रत, प्रत्याख्यान या मुनिदशा नहीं होती। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि निश्चय से जिसका एक चैतन्यस्वभाव है, ऐसे आत्मा को जानना, वह अमृतपद है, पर की ओर का आश्रयभाव संसार है और स्वभाव की ओर का आश्रयभाव मुक्ति का कारण है।

रुचिपूर्वक हाँ कहो....!

हे भव्य! तुझमें शक्ति है;—ऐसा देखकर आचार्य भगवान कहते हैं कि आत्मा ऐसा है, उसे तू जान! ज्ञानी जिसमें सामर्थ्य देखें उसी से आत्मा जानने को कहते हैं; कहीं पत्थर से-जड़ से या भैंसे से नहीं कहते कि तू आत्मा को जान! इसलिये, 'हम नहीं समझ सकेंगे'—इसप्रकार 'ना' मत कहना। मैं इस समय तैयार नहीं हूँ, मेरे लिये सुअवसर या सुसंयोग नहीं है—इसप्रकार ओट मत लेना! बराबर न्याय, युक्ति, प्रमाण से शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहा जायेगा, उसकी रुचि लगाकर 'हाँ' कहना। जिसप्रकार रणभेरी बजने पर राजपूत छिपता नहीं है; रणभेरी सुनकर साढ़े तीन करोड़ रोगों में राजपूत का शौर्य उछलने लगता है। उसीप्रकार तत्त्व की महिमा सुनकर पात्र चैतन्य का वीर्य उछल पड़ता है। सिद्ध भगवंत पूर्ण निर्मलदशा को प्राप्त हुए—उनकी ज्ञाति का उत्तराधिकारी मैं हूँ, मैंने अपनी स्वतंत्रता की भेरी सुन ली है;—इसप्रकार स्वतंत्रता की बात सुनकर हे जीव! उसकी महिमा लाओ! श्री कुंदकुंदभगवान समयसार की रणभेरी बजा रहे हैं, उसे सुनकर तू न उछले—ऐसा कैसे हो सकता है?

अनेकान्त और उसका प्रयोजन

श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ. 118 से 120 तक

आगे सप्तप्रकृति के उपशम क्षय क्षयोपशमतैं उपज्या सम्यक्त्व कैसे जाणिये, ऐसा तत्त्वार्थ श्रद्धान कूं कहै हैं।

जा तच्च मणेयंतं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं।
लोयाण पण्हवसदो ववहार पवत्तणट्ठं च॥311॥
जो आयरेण मण्णदि, जीवाजीवादि णवविहं अत्थं।
सूदणाणेण णयेहिं, य सो सदिट्ठी हवे सुद्धो॥312॥

यः तत्त्वं अनेकातं नियमात् श्रद्दधाति सप्तभङ्गैः।
लोकानां प्रश्नवशतः व्यवहारप्रवर्त्तनार्थं च॥311॥
यः आदरेण मन्यते जीवाजीवादि नवविधं अर्थं।
श्रुतज्ञानेन नयैः च सह सदृष्टि भवेत् शुद्धः॥312॥

भाषार्थ - जो पुरुष सप्तभंगानि करि अनेकान्त तत्त्वनिका नियमतैं श्रद्धान करैं, जातैं लोकनिका प्रश्न के वशतैं विधि-निषेधतैं वचन के सात ही भंग होय हैं, तातैं व्यवहारके प्रवर्तने के अर्थ भी सात भंगनिका वचन की प्रवृत्ति होय है। बहुरि जो जीव-अजीव आदि नवप्रकार पदार्थ कूं श्रुतज्ञानप्रमाण करि तथा तिसके भेद जे नय, तिनिकरि अपना आदर, यत्न, उद्यम करि मानै, श्रद्धान करै, सो शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ - वस्तु का स्वरूप अनेकान्त है। जामैं अनेक अंत कहिये धर्म होय, सो अनेकान्त कहिये। ते धर्म अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, भेदत्व, अभेदत्व, अपेक्षात्व, अनपेक्षात्व, दैवसाध्यत्व, पौरुष साध्यत्व, हेतुसाध्यत्व, आगमसाध्यत्व, अंतरंगसाध्यत्व, बहिरंसाध्यत्व इत्यादि तौ सामान्य है।

बहूरि जीवत्व अजीवत्व, स्पर्शत्व, रसत्व, गंधत्व, वर्णत्व, शब्दत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, संसारित्व, सिद्धत्व, अवगाहत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व इत्यादि विशेष धर्म हैं।

सो तिनिके प्रश्नके वशतैं विधि-निषेधरूप वचनके सात भंग होय है। तिनिकै 'स्यात्' ऐसा पद लगावणा। स्यात् नाम कथंचित् - कोई प्रकार, ऐसा अर्थ मैं है। तिसकरि वस्तुकूं अनेकान्त साधणा।

सप्तभंगी और अनेकान्त

तहां वस्तु स्यात् अस्तित्वरूप है, ऐसे कोई प्रकार अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव करि अस्तिवरूप कहिये है ।1। बहुरि स्यात् नास्तित्वरूप है, ऐसे परवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव करि नास्तित्वरूप कहिये है ।2। बहुरि वस्तु स्यात् अस्तित्व-नास्तिस्वरूप है, ऐसे वस्तु में दोउही धर्म पाईयें हैं और वचन करि क्रमतैं कहे जाय हैं ।3। बहुरि स्यात् अवक्तव्य है, ऐसे वस्तु में दोउही धर्म एक काल पाइये हैं, तथापि एक काल वचनकरि कहे न जाय हैं, तातैं कोई प्रकार अवक्तव्य है ।4। बहुरि अस्तित्व करि कह्या जाय है, दोउ एक काल है, तातैं कह्या न जाय ऐसे वक्तव्य भी है अर अवक्तव्य भी है तातैं स्यात् अस्तित्व अवक्तव्य भी है ।5। ऐसे ही नास्तित्व अवक्तव्य कहना ।6। बहुरि दोउ धर्म क्रमकरि कह्या जाय युगपद कह्या न जाय, तातैं स्याद् अस्तितत्व-नास्तित्व अवक्तव्य कहना ।7। ऐसे सात ही भंग कोई प्रकार संभवै हैं।

ऐसैं ही एकत्व, अनेकत्व आदि सामान्य धर्मनिपरि सात भंग विधि निषेधतैं लगावणा। जैसें जैसैं जहां अपेक्षा संभवै सो लगावणी। बहुरि तैसें ही विशेषत्वधर्म जीवत्व अजीवत्व आदि में लगावणा; जैसे जीवनामा वस्तु है सो स्यात् जीवत्व, स्यात् अजीवत्व इत्यादि लगावणा। तहां अपेक्षा ऐसैं जो अपना जीवत्वधर्म आपमैं है, तातैं जीवत्व है। पर अजीव का अजीवत्वधर्म यामें नाहिं तौउ अपने अन्य धर्मकूं मुख्य करि कहिये ताकी अपेक्षा अजीवत्व है इत्यादि लगावणा।

तथा जीव अनंत हैं, ताकी अपेक्षा जीवत्व आपमैं, परका जीवत्व यामैं नाहीं है, तातैं ताकी अपेक्षा अजीवत्व है एसैं भी सधै है। इत्यादि अनादिनिधन अनंत जीव अजीव वस्तु है, तिनि विषै अपने अपने द्रव्यत्व, पर्यायत्व अनंतधर्म हैं, तिनि सहित सप्तभंगतैं साधना तथा तिनिके स्थूल पर्याय है, ते भी चिरकालस्थायी अनेक धर्मरूप होय है। जैसें जीव संसारी सिद्ध। बहुरि संसार मैं त्रस-स्थावर तिनिमैं मनुष्य, तिर्यंच इत्यादि। बहुरि पुद्गल में अणु-स्कंध तथा घट-पट आदि, सो इनिके भी कथंचित् वस्तुपणा संभवै है। सो भी तैसें ही सप्तभंग तैं साधणा।

बहुरि तैसें ही जीव-पुद्गल के संयोगतैं, भये आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, पुण्य-पाप,

मोक्षादिभाव तिनिमैं भी बहुत धर्मपणाकी अपेक्षा तथा परस्पर विधि-निषधतैं अनेक धर्मरूप कथंचित् वस्तुपणा संभवे है। सो सप्तभंगतैं साधणा। जैसें एक पुरुष में पिता, पुत्र, माता, भाणजा, काका, भतीजापणा आदि धर्म संभवै हैं। सो अपनी-अपनी अपेक्षा तैं विधि-निषेध करि सात भंगतैं साधणा।

ऐसा नियमकरि जानना जो वस्तुमात्र अनेक धर्मस्वरूप है, सो सर्वकूं अनेकान्त जाणी श्रद्धान करै, बहुरि तैसें ही लोक के विषै व्यवहार प्रवर्त्तावै सो सम्यग्दृष्टि है। बहुरि जीव, अजीव, आस्रव, बंध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये नव पदार्थ हैं, तिनिकूं तैसें ही सप्तभंगतैं साधने। ताका साधन श्रुतज्ञानप्रमाण है।

नय

और ताके भेद द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक तिनिके भी भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, संभिरूढ एवं भूतनय हैं, बहुरि तिनिके भी उत्तरोत्तर भेद जेते वचन के प्रकार हैं तेते हैं, तिनिकूं प्रमाण सप्तभंगी अर नयसप्तभंगी के विधानकरि साधिये है, तिनिका कथन पहले लोक भावना मैं कीया है। बहुरि तिसका विशेष कथन तत्त्वार्थसूत्र की टीका तैं जानना। ऐसैं प्रमाण नयनिकरि जीवादि पदार्थनिकूं जानिकरि श्रद्धा करे सो शुद्ध सम्यग्दृष्टि होय है।

बहुरि इहां यह विशेष और जानना जो नय है ते वस्तु के एक एक धर्म के ग्राहक हैं ते अपने अपने विषयरूप धर्मकूं ग्रहण करिने विषै समान है तोऊ पुरुष अपने प्रयोजन के वशतैं तिनिकूं मुख्य गौण करि कहै हैं। जैसैं जीवनमा वस्तु है तामैं अनेक धर्म हैं। तौऊ चेतनपणा आदि प्राण धारणपणा अजीवनितैं असाधारण देखी तिनि अजीवनितैं न्यारा दिखावने के प्रयोजन के वशतैं मुख्यकरि वस्तु का जीव नाम धर्या। ऐसैं ही मुख्य गौण करने का सर्व धर्म के प्रयोजनके वशतैं जानना।

'शुद्ध पर्याय प्रगट करने के लिए निश्चय की सदा मुख्यता और व्यवहार की सदा गौणता।'

इहां इस ही आशयतैं अध्यात्म कथनी विषै मुख्यकूं तौ निश्चय कहा है, अर गौणकूं व्यवहार कह्या है। तहां अभेद धर्म तौ प्रधानकरि निश्चय का विषय कह्या। अर भेद नयकूं गौण करि व्यवहार कह्या सो द्रव्य तो अभेद हैं। तातैं निश्चय का आश्रय द्रव्य है। बहुरि पर्याय भेदरूप है। तातैं व्यवहार का आश्रय पर्याय है, तहां प्रयोजन ऐसा जो भेदरूप वस्तुकूं सर्व लोक जाने है तातैं जो

जाने सो ही ही प्रसिद्ध है। याही तैं लोक पर्यायबुद्धि हैं। जीव का नरनारकादि पर्याय है तथा राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पर्याय है तथा ज्ञान के भेद मतिज्ञानादिक पर्याय है, तिनि पर्यायनि ही कूं लोक जीव जाने हैं, तातैं इनि पर्यायनि विषै अभेदरूप अनादि अनंत एक भाव जो चेतनाधर्म ताकूं ग्रहणकरि निश्चयनय का विषय कहि करि जीवद्रव्य का ज्ञान कराया। पर्याय आश्रित जो भेदनय ताकूं गौण कीया तथा अभेददृष्टि में यही दीखैं नाहिं तातैं अभेदनय का दृढ़ श्रद्धा करावनेकूं कहा जो पर्यायनय है सो व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। सो भेदबुद्धि का एकान्त निराकरण करने के अर्थ यह कहना जानना। ऐसा नाहि कि यह भेद है सो असत्यार्थ कह्या।

जो वस्तु का स्वरूप ही नाहिं है जो ऐसै सर्वथा मानै तो अनेकान्त मैं समजा नहिं सर्वथा एकान्त श्रद्धान तैं मिथ्यात्व होय है। अध्यात्मशास्त्र विषै निश्चय व्यवहारनय कहै हैं तहाँ भी तिनि दोउनिका परस्पर विधि निषेध तैं सप्तभंगकरि वस्तु साधणा। एककूं सर्वथा सत्यार्थ मानै अर एककूं सर्वथा असत्यार्थ मानै तो मिथ्याश्रद्धान होय है। तातैं तहाँ भी कथंचित् जानना।

उपचार नय

बहुरि अन्य वस्तु अन्य विषै आरोपण करि प्रयोजन साधियै है, तहाँ उपचारनय कहिये है सो यह भी व्यवहार विषैहि गर्भित है ऐसैंहि कह्या है। जो जहाँ प्रयोजन निमित्त होय तहाँ उपचार प्रवर्ते है। घृत का घट कहिये तहां माटी का घड़ा के आश्रय घृत भर्या होय तहाँ व्यवहारी जननिकूं आधार-आधेय भाव दीखै है ताकूं प्रधान करि कहिये है। जो घृत का घड़ा है ऐसैं ही कहै लोक समझै, अर घृत का घड़ा मगावै तब तिसकूं ले आवै, तातैं उपचार विषै भी प्रयोजन संभवै है। ऐसैं ही अभेदनयकूं मुख्य करे तहाँ अभेददृष्टि में भेद दीखै नाहीं, तब तिसमैं ही भेद कहे सो असत्यार्थ है तहाँ भी उपचार सिद्धि होय है, यह मुख्य गौण का भेदकूं सम्यग्दृष्टि जानै है। मिथ्यादृष्टि अनेकान्त वस्तुकूं जानै नाही। अर सर्वथा एक धर्म ऊपरि पड़ै तब तिसहीकूं सर्वथा वस्तु मानि अन्य धर्मकूं कै तौ सर्वथा गौण करि असत्यार्थ मानै, कै सर्वथा अन्य धर्म का अभाव ही मानै। तथा मिथ्यात्व दृढ़ होय है सो यह मिथ्यात्वनमा धर्म की प्रकृति के उदय तैं यथार्थ श्रद्धा न होय है तातैं तिस प्रकृति का कार्य है, सो भी मिथ्यात्व ही कहिये है। अर तिस प्रकृति का अभाव भये तत्त्वार्थ का यथार्थ श्रद्धान होय है सो यह अनेकान्त वस्तु विषै प्रमाण नयकरि सात भंगकरि साध्या हुआ सम्यक्त्व का कार्य है। तातैं याकूं भी सम्यक्त्व ही कहिये। ऐसैं जानना।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए मुमुक्षु को क्या करना ?

जिनमत की कथनी अनेक प्रकार है सो अनेकान्तरूप समझना। अर याका फल अज्ञान का नाश होकर उपादेय की बुद्धि अर वीतरागता की प्राप्ति है। सो इस कथनी का मर्म पावना बड़े भाग्यतैं होय है।

इस पंचमकाल में अबार इस कथनी के गुरु का निमित्त सुलभ नहीं है तातैं शास्त्र समझने का निरन्तर उद्यम राखि समझना योग्य है। जातैं याकै आश्रय मुख्यपणै सम्यग्दर्शन की प्राप्ति है। यद्यपि जिनेन्द्र की प्रतिमा का दर्शन तथा प्रभावना अंग का देखना इत्यादि सम्यक्त्व की प्राप्तिकूं कारण है तथापि शास्त्र का श्रवण करना, पढ़ना, भावना करना, धारणा, हेतुयुक्ति करि स्वमत परमत का भेद जानि नयविवक्षाकूं समझना वस्तु का अनेकान्तस्वरूप निश्चय करना मुख्य कारण है। तातै भव्य जीवनिकूं इसका उपाय निरन्तर राखणा योग्य है।

श्री परमात्म-प्रकाश-प्रवचन

गाथा-5, वीर सं. 2473, भाद्रप्रद कृष्णा 13, लेखांक-5

(अंक 70 से आगे)

(36) सच्चा नमस्कार करने वाले को कैसा भेदज्ञान होता है ?

यहाँ ग्रन्थकार आचार्य कहते हैं कि 'मैं' कर्मक्षण के लिए सिद्धों को नमस्कार करता हूँ। उसमें 'मैं' अर्थात् कौन ? वह नमस्कार करनेवाले ने स्वयं जाना है। यह शरीरादि मैं नहीं हूँ, सिद्धों को नमस्कार करने का विकल्प भी मैं नहीं हूँ, यह विकल्प तो राग है-पुण्यतत्त्व है, यह जीवतत्त्व नहीं है।

'कर्मक्षय' के लिए नमस्कार करता हूँ तो कर्म क्या है और उसके क्षय का क्या अर्थ है ?

वह जानना चाहिए। कर्म पुद्गलद्रव्य की पर्याय है तो क्या जीव पुद्गल का क्षय कर सकता है ? जीव पुद्गल कर्म का क्षय कर सकता है ? जीव पुद्गल कर्म का क्षय नहीं कर सकता, किन्तु जीव ने विकार का क्षय किया कि वहाँ कर्म का क्षय स्वयं हो जाता है, इससे – 'जीवने कर्म का क्षय किया' – ऐसा कहा जाता है। यह कथन किस नय का है, उसे जाने बिना इसका सच्चा भाव समझ में नहीं आ सकता।

कर्म और जीव का संयोग है – ऐसा कहा जाता है तो वह किस नय का वाक्य है, उसे जानना चाहिए। यह व्यवहारनय का वाक्य है, इससे वास्तव में जीव और कर्म पृथक् हैं। दोनों के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पृथक् हैं। आकाश क्षेत्र की अपेक्षा से उनका संयोग कहलाता है, किन्तु आत्मा और कर्म का स्वक्षेत्र त्रिकाल अत्यन्त भिन्न-भिन्न ही है।

(37) कैसे नमस्कार से कर्मक्षय होता है।

कर्म के क्षय के लिए कैसा नमस्कार होता है ?

पंचपरमेष्ठी को नमस्कार से पुण्य होता है – ऐसे नमस्कार तो जीव ने अनंत किये हैं, यह नमस्कार कर्मक्षय का कारण नहीं है, वह तो कर्मबंध का कारण है। यहाँ कर्मक्षय के कारणरूप नमस्कार कैसे है ? मेरा लक्ष सिद्ध भगवान पर नहीं है, राग-विकल्प पर नहीं है, किन्तु मैं अपने शुद्ध स्वभाव में एकाग्रतारूप नमस्कार करता हूँ और यह नमस्कार ही कर्मक्षय क कारण है – ऐसा भान नमस्कार करने वाले को होना चाहिए।

(38) कौनसा तत्त्व नमस्कार करता है ?

मैं नमस्कार करता हँ, इसलिए मैं जीव हूँ, यह शरीरादि जड़ नमस्कार नहीं करते और जो राग है, वह भी वास्तव में नमस्कार नहीं है, किन्तु 'मैं जीव हूँ' – ऐसे स्वभाव की पहिचानपूर्वक उसमें लीनतारूप नमस्कार करता हूँ और वह कर्मक्षय का कारण है। यदि कर्मों को अपना माने तो उन्हें दूर कैसे करे ? मैं कर्मों को दूर करता हूँ – ऐसी ध्वनि ही सिद्ध करती है कि कर्म आत्मा का स्वरूप नहीं है।

सिद्धों को कर्म का संबंध नहीं है और मुझे कर्मों का संबंध है, सिद्ध विकारी नहीं है और मैं विकारी हूँ – ऐसा जो जीव मानेगा, वह कर्मों का और विकार का क्षय कहाँ से करेगा ? परन्तु

सिद्धों को कर्म या विकार नहीं है, उसीप्रकार मेरे आत्मा का स्वभाव भी कर्म और विकाररहित है – ऐसी स्वभावसन्मुख दृष्टिपूर्वक का नमस्कार ही कर्मक्षय का कारण है।

(39) सच्चा नमस्कार करने की रीति।

इस यथार्थ नमस्कार में क्या पहिचान आई ?

1. कर्म जड़ है, उसका नाश हो सकता है, इसलिए वास्तव में वह आत्मा के संबंध में नहीं है – इसी से उसका नाश हो सकता है। 2. सिद्ध भगवान को नमस्कार करने का विकल्प भी पुण्य है, विकार है, उसका भी नाश करने की भावना है। 3. पुण्य-पाप रहित शुद्धस्वभाव का अनुभव हुआ है और स्वभाव की ओर ढलता है, उसने सिद्ध को परमार्थ नमस्कार किया है और उसी से कर्मक्षय होता है। शरीरादि तो आत्मा से त्रिकाल भिन्न ही हैं, और राग की वृत्ति उठती है, वह क्षणिक विकार है, वह भी परमार्थतः आत्मा से भिन्न है और आत्मा का त्रिकाली शुद्ध स्वभाव है, उसे पहिचान कर पुण्य-पाप की वृत्ति को छेदकर आत्मा में नमन करना – आत्मा की ओर ढलना ही शुद्धभाव है, धर्मभाव है। शरीरादि जड़ का मैं कर दूँ – ऐसा अहंकार मिथ्यात्वरूपी पापभाव है, मैं भगवान को नमस्कार करूँ – ऐसी वृत्ति पुण्यभाव है, और उसमें धर्म माने तो मिथ्यात्वरूपी पापभाव है। पुण्य-पाप रहित आत्मस्वरूप को जानकर उसमें परिणमित होना, वह शुद्धभाव है, वही भावनमस्कार है। प्रत्येक जीव कुछ न कुछ भाव तो करता है, लेकिन कौनसा भाव करने से धर्म है ? भाव तीन प्रकार के हैं – 1. शुद्धभाव, 2. शुभ भाव और 3. अशुभभाव। उसमें स्वभाव के भानपूर्वक की लीनता, वह भावनमस्कार है, शुभवृत्ति द्रव्यनमस्कार है और अशुभभाव तो पाप है। परमार्थतः स्वयं अपने आत्मा को ही नमस्कार करता है। आत्मा को नमस्कार कैसे होता है ? कि जैसा अपना परमार्थ शुद्धस्वभाव है, वैसा जानकर उसमें लीनता करना ही स्वयं अपने आत्मा को नमन करना है और वही सिद्धों को नमस्कार कहलाता है। यही 'णमो सिद्धाणं' का अर्थ है – ऐसे नमस्कार से धर्म है, किन्तु 'णमो सिद्धाणं' ऐसा बोलने मात्र से धर्म नहीं हो जाता। बोलते समय शुभभाव हो तो पुण्य होता है और शुभभाव न हो तो पुण्य भी नहीं होता।

(40) जीवत्व की पहिचान से सम्यग्दर्शन होता है।

मिथ्या देव-गुरु-शास्त्र को मानना, वह तो तीव्र मिथ्याभाव है और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को मानने से भी सम्यग्दर्शन नहीं है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को अभव्य भी मानता है, उसमें तो शुभराग है।

देव का आत्मा मुझसे भिन्न है, गुरु का आत्मा भी मेरे आत्मा से भिन्न है, इसलिए उसकी श्रद्धा से भी राग है। इसप्रकार देव-गुरु-शास्त्र और राग से भिन्न जीवतत्त्व को पहिचान कर उसकी प्रतीति करना, सो सम्यग्दर्शन है। ऐसे भानपूर्वक स्वरूप की एकाग्रतारूप नमस्कार ही कर्मक्षय का कारण है।

(41) सिद्ध को नमस्कार करनेवाला क्या जानता है ?

सिद्ध भगवान कैसे हैं ? निश्चय से देखा जाये तो सिद्ध भगवान स्वयं अपने ज्ञानस्वरूप में ही स्थित हैं, इसलिए अपने को ही जानते हैं, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि भी ऐसा जानता है कि परमार्थत: मैं अपने ज्ञानस्वरूप में ही स्थित हूँ, मैं शरीर में, वाणी में और राग में स्थित नहीं हूँ, इसलिए निश्चय से मैं अपने को ही जानता हूँ।

अब, व्यवहारनय से देखा जाये तो सिद्ध भगवान लोकालोक को नि:संदेहरूप से जानते हैं, यह असद्भूत उपचरित व्यवहारननय है। उसीप्रकार सम्यग्दृटि भी जानता है कि पर को मैंने जाना, यह तो असद्भूत व्यवहार है। परमार्थत: मैं किसी पर को नहीं जानता, क्योंकि परद्रव्य तो मुझ से भिन्न है। मैं तो परमार्थत: अपने आत्मा को ही जानता हूँ। इसप्रकार भगवान के स्वरूप को जानकर अपने स्वरूप का भी निर्णय करता है।

(42) स्व को जानना सो निश्चय, पर को जानना सो व्यवहार

सिद्ध भगवान पर को जानते हैं, उसे 'व्यवहार नय' क्यों कहा ? सिद्ध भगवान पर को जानते हैं किन्तु उसमें तन्मय होकर नहीं जानते, इससे वे व्यवहार से पर को जानते हैं। परमार्थ से स्वयं अपने स्वरूप में ही तन्मयरूप से रहकर अनुभव करते हैं। यदि भगवान परमार्थ से पर को जानते हों तो पर के साथ तन्मयता हो जाये और पर में तन्मय होकर जाने तो नरक के दु:ख का अनुभव होना चाहिए, इसलिए भगवान पर के साथ तन्मय होकर नहीं जानते। भगवान की भांति अन्य समस्त आत्मा भी पर के साथ तन्मय होकर नहीं जानते। 'मैं पर को जानते हुए पर के साथ एकमेक होकर नहीं जानता किन्तु अपने ज्ञान में ही तन्मय रहता हूँ, ज्ञान में ही एकाकार हूँ, इसलिए पुण्य-पाप में या पर में एकाकार नहीं हूँ' - ऐसे सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही यथार्थ नमस्कार होता है। मैं पर को जानता हूँ, यह भी व्यवहार से है, परमार्थ से तो आत्मा, आत्मा को ही जानता है। यदि परमार्थ से जीव कर्मादि पर को जाने तो वह पर में एकमेक हो जाये। सिद्ध को नमस्कार करते हुए ग्रन्थकार मुनि कहते हैं कि मैं सिद्ध को नमस्कार करता हूँ और सिद्ध को जानता हूँ - यह भी व्यवहार है।

यदि परमार्थ से मैं सिद्ध को जानता होऊँ तो मेरे आत्मा में सिद्ध का ज्ञान और आनंद आ जाना चाहिए। इसलिए परमार्थ से मैं अपने आत्मा को जानता हूँ। मेरी पर्याय यदि सिद्ध जैसी है तो मुझे नमस्कार करना ही नहीं रहेगा, इसलिए पर्याय की अपेक्षा से अन्तर है – उसका साधक को ज्ञान है।

नवतत्त्व त्रिकाल भिन्न-भिन्न स्वभाववाले हैं। यदि किसी भी समय जीव और शरीर एक हो जाते हों तो नवतत्त्वों का लोप हो जाये, इसलिए इस समय भी मैं शरीरादि और विकार से भिन्न जीवतत्त्व हूँ। पर्याय में जो क्षणिक राग-द्वेष हैं, उसका सिद्ध के स्मरण द्वारा निषेध करता हूँ। ऐसा जिस को भान हो, वही सिद्ध को सच्चा नमस्कार कर सकता है।

'सिद्ध भगवान के राग-द्वेष नहीं है, इसलिए नरक-स्वर्ग को जानते हुए उन्हें दु:ख-सुख नहीं होता' – यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो यह बतलाना है कि निश्चय से सिद्ध का आत्मा पर को नहीं जानता, ज्ञान पर को जानते हुए उसमें एकमेक होकर नहीं जानता, इसलिए उन्होंने जिस हर्ष-शोकवाले जीवों को जाना, उनके हर्ष-शोक का अनुभव उन्हें नहीं होता। वे अपने स्वरूप में तन्मय रूप से रहते हैं और पर तो सहज ही ज्ञात हो जाता है। यदि पर को जानते हुए उसमें एकमेक होते हों तो पर के दु:ख-सुख का अनुभव हो। लेकिन यहाँ कहते हैं कि पर में एकमेक होकर नहीं जानते, इसलिए परमार्थ से पर को नहीं जानते, इसलिए उन्हें पर के सुख-दु:ख का वेदन नहीं है। स्व में तन्मय रहकर और स्व और पर को जानने का ज्ञान का स्वभाव है। सिद्ध की भांति संसारी जीव भी पर के साथ एकमेक होकर पर को नहीं जानते एकमेक होकर अर्थात् यदि निश्चय से पर को जानते हों तो पर सुख-दु:ख में वे तन्मय हो जाये ? लेकिन पर के सुख-दु:ख का कोई आत्मा वेदन नहीं करता। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा का जो स्वभाव है, वह परमार्थ से अपने में ही तन्मय है, इसलिए परमार्थ से स्व को ही प्रकाशित करता है। पर को प्रकाशित करता है, वह व्यवहार है। यहाँ इस समय नहीं बताना है कि सिद्ध को द्वेष नहीं है, इसलिए सुख नहीं है और संसारी को राग-द्वेष है, इसलिए सुख-दु:ख है, किन्तु ज्ञानस्वभाव के स्व-परप्रकाशकपने में निश्चय और व्यवहार बतलाते हैं। ज्ञान स्वयं अपने को जानता है, वह निश्चय है और पर को जानता है, वह व्यवहार है।

परपदार्थों को ज्ञान होता है, वह बात यथार्थ है, परपदार्थों को जाननेवाला ज्ञान ज्ञानरूप से परमार्थ है, लेकिन अत्मा का ज्ञान परद्रव्यों को जानता है – ऐसा कहनेमें पर के साथ का संबंध आता है, इसलिए परसंबंध की अपेक्षा से वह व्यवहार है और आत्मा स्वयं को अपने को जानता है, वह परमार्थ है, उसमें पर का संबंध नहीं आता।

यदि अभेदविवक्षा से देखें तो 'आत्मा स्वयं को अपने को जानता है' – ऐसा कहने में भेद पड़ता है, इसलिए वह भी व्यवहार है। त्रिकाली अभेद आत्मस्वभाव, वह निश्चय है, लेकिन वह विवक्षा यहाँ नहीं है।

पर को जानता है – ऐसा कहना, सो व्यवहार है, किन्तु स्वयं अपने ज्ञान को जानते हुए उसमें पर का ज्ञान आ जाता है। इसप्रकार अपना ज्ञान तो निश्चय है। ज्ञान पर को जानता है – ऐसा कहना, वह व्यवहारनय है, किन्तु ज्ञान पर का कुछ भी कार्य करता है – ऐसी मान्यता तो प्रगट मिथ्यात्व है।

(43) कौनसा तत्त्व दु:ख का कारण है ?

किसी को शरीर में रोग हुआ हो तो वहाँ उसे जानते हुए ज्ञान क्या शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। अथवा तो सामनेवाले के दु:ख के साथ तन्मय हो जाता है ? ज्ञान तो पृथक् रहकर ही जानता है। सामनेवाले के रोग को जानते समय रागी जीव को जो दु:ख होता है, वह क्यों होता है ? सामने वाले अजीवतत्त्व के कारण दु:ख नहीं है, स्वयं जाना, वह ज्ञान तो जीवतत्त्व का है, उस जीवतत्त्व के कारण दु:ख नहीं है, लेकिन दु:ख पर जो द्वेषभाव आया है, वह पापतत्त्व ही दु:ख का कारण है। यदि अजीवतत्त्व दु:ख का कारण हो तो सभी को दु:ख हो, ज्ञान में जानना वह दु:ख का कारण हो तो केवली भगवान को भी दु:ख हो, इसलिए अजीवतत्त्व या उसे जानने वाला ज्ञान (जीवतत्त्व) दु:ख का कारण नहीं है, किन्तु जीव उस समय जो द्वेषभाव करता है, वह पापतत्त्व है, वही दु:ख का कारण है। **(क्रमश:)**

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

समयसार -प्रवचन (भाग-1) [पू० श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन]	मूल्य 6-0-0
समयसार -प्रवचन (भाग-2) [पू० श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन]	मूल्य 6-0-0
समयसार -प्रवचन (भाग-3, 4)	तैयार हो रहे हैं।
मोक्षशास्त्र-टीका	तैयार हो रहा है।
भेदविज्ञान सार [पूज्य श्री कानजीस्वामी के धार्मिक महोत्सव के दिनों में समयसार पर प्रवचन]	छप रहा है।
जैन बालपोथी	0-4-0
मुक्ति का मार्ग (सत्तास्वरूप पर प्रवचन)	0-10-0
मूल में भूल (उपादान-निमित्त संवाद)	0-12-0
वस्तुविज्ञान सार (जैन गीता)	जिज्ञासुओं को भेंट
नन्दीश्वर-द्वीप पूजन	2-10-0
दशलक्षण-धर्म प्रवचन	0-12-0
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें (आत्मधर्म के ग्राहकों को भेंट)	1-2-0
प्रवचनसार (अक्षरशः हिन्दी अनुवाद)	6-2-0
आत्मधर्म की फाइलें	3-12-0

[इस शास्त्रमाला की 54 पुस्तकें प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें गुजराती भाषा में हैं, उनका सूची पत्र मँगा सकते हैं।]

प्राप्तिस्थान —

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)